हिन्दू धर्म के विभिन्न स्वरूप
(Various Forms of Hindu Religion)

1. **सामान्य धर्म**
2. **विशिष्ट धर्म**
3. **आपधर्म**

- **सामान्य धर्म** (Samanya Dharma)

सामान्य धर्म का अर्थ धर्म के उस रूप से है जिसका पालन करना सभी के लिए आवश्यक है। व्यक्ति निम्न वर्ण का हो अथवा उच्च वर्ण का, आयु में छोटा हो अथवा बड़ा, धनी हो अथवा निर्धन, स्त्री हो अथवा पुरूष, राजा हो अथवा प्रजा, सामान्य धम्र का पालन करना सभी का कर्तव्य है। यह धर्म किसी एक परिवार, समूह अथवा देश का ही नहीं होता बल्कि यह सम्पूर्ण मानव जाति का धर्म है। सामान्य धर्म का सम्बन्ध अनेक नैतिक नियमों से है और नैतिक नियम सम्पूर्ण मानव जाति के लिए समान होते हैं, इसलिए सामान्य धर्म को '**मानव धर्म**' भी कहा जाता है। इसका उद्देश्य मानव में सद्गुणों का विकास करना तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति करना है कि 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'। मनुस्मृति में सामान्य धर्म के 10 लक्षण बताते हुए कहा गया हैः

- **धृति**

अपनी जीभ अथवा ज्ञानेन्द्रियों पर संयम रखना ही धृति कहलाता है। जो व्यक्ति धृति अथवा धैर्य का गुण विकसित कर लेता है उसे हम 'धीर' कहते हैं। धीर व्यक्ति की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ''मन का विकार होने पर भी जिसका मन अथवा चित्त विकृत नहीं होता, वह धीर है।'' यद्यपि इसकी साधना कठिन है तो भी यह सामान्य धर्म का आधारभूत लक्षण है।

- **क्षमा**

क्षमा का तात्पर्य सबल होते हुए भी उदार व्यवहार करना है। जो व्यक्ति निर्बलता अथवा कायरता के कारण अन्याय को सहन कर लेते हैं, उन्हें क्षमावान नहीं कहा जा सकता है। महाभारत में कहा गया है कि ''क्षमा सदैव श्रेयस्कर नहीं होती। गम्भीर दोषों के लिए तो दण्ड देना ही हितकर है, लेकिन सामान्य दोष को सहन करके दोषी व्यक्ति को क्षमा कर देना ही मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है।''

- **काम और लोभ पर संयम**

मनुस्मृति में कहा गया है इन्द्रियों के विशेष संग से मनुष्य का जीवन दोषपूर्ण हो जाता है, जबकि इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखने से सही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। केवल काम और लोभ को ऊपर से दबाकर मन ही मन उसका स्मरण करने को गीता में 'मिथ्याचार' कहा गया है। इस प्रकार शारीरिक वासनाओं पर संयम रखकर अपने जीवन को शुद्ध और नियमित बनाना मानव धर्म है।

- **अस्तेय**

सामान्य रूप से अस्तेय का अर्थ 'चोरी न करना' है, लेकिन सामान्य धर्म के लक्षण के रूप में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि ''सोये हुए, पागल तथा अविवेकी व्यक्ति से विविध उपायों द्वारा छल करके कोई वस्तु ले लेना ही चोरी है।'' इसी आधार पर हिन्दू धर्म में 'पर द्रव्येष लोष्ठवत्' का आदर्श सामने रखा गया है।

- **शुचिता अथवा पवित्रता**

पवित्रता का तात्पर्य केवल स्नान कर लेने अथवा वस्त्रों को स्वच्छ रख लेने से नहीं है। पवित्रता का वास्तविक अर्थ मन, जीवात्मा तथा बुद्धि को पवित्र रखना है। वास्तव में सत्य बोलने से मन की शुद्धि होती है, तप के द्वारा जीवात्मा पवित्र

RAO'S ACADEMY
for Competitive Exams
(A Unit of RAGE)

बनती है और ज्ञान के द्वारा बुद्धि शुद्ध होती है। मनुस्मृति में उल्लेख है कि ''इन सभी शुद्धियों में न्याय से प्राप्त किये गये धन की शुद्धि सर्वश्रेष्ठ है।'' (मनुस्मृति, 5/106)। इस प्रकार जो व्यक्ति न्याय और श्रम से धन प्राप्त करके उसका उपभोग करता है उसका शरीर, मन, जीवात्मा और बुद्धि अपने आप शुद्ध हो जाती है।

- **इन्द्रिय–निग्रह**

गीता में इन्द्रिय–निग्रह को मानव–जीवन का वास्तविक आधार मानते हुए कहा गया है कि ''इन्द्रियों पर नियन्त्रण न रखने से विषयों में आसक्ति बढ़ती है, विषय कामनाओं की पूर्ति न होने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मूढ़ता आती है, मूढ़ता उत्पन्न होते ही समृति–विभ्रम उत्पन्न हो जाता है, स्मृति का नाश होते ही बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य का ही सर्वनाश हो जाता है।'' इस प्रकार इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने से ही सच्चे लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

- **'धी' अथवा बुद्धि**

धर्म का सातवां प्रमुख लक्षण बुद्धि का समुचित विकास है क्योंकि इसके बिना किसी भी कर्तव्य की पूर्ति नहीं की जा सकती। बुद्धि के विकास का तात्पर्य केवल वेदों अथवा धर्मशास्त्रों का अध्ययन कर लेना ही नहीं बल्कि इसका तात्पर्य प्रत्येक दशा में उचित और अनुचित को समझ लेने की शक्ति प्राप्त करना है। व्यक्ति जैसे–जैसे सभी प्राणियों में अपने ही समान आत्मा होने का अनुभव करता जाता है, उसकी बुद्धि स्वयं परिपक्व होती जाती है (आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः)।

- **विद्या**

कहा गया है कि **'नास्तिक विद्यासमं चक्षु'** अर्थात् विद्या से महत्वपूर्ण कोई दृष्टि नहीं है। शास्त्रों का पठन–पाठन अथवा सिद्धांत को समझ लेना ही विद्या नहीं है बल्कि वास्तव में विद्या वह है जो मनुष्य को काम, क्रोध, लोभ, मोह और मन की निम्न वृत्तियों से छुटकारा दिलाती है। जिस विद्या के द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे चारों पुरूषार्थों के वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वही वास्तविक विद्या है।

- **सत्य**

ऋग्वेद में कामना की गयी है कि **''सत्यम् वद धर्मस चर।''** वास्तव में सत्य ही मनुष्य का परम धर्म है। सत्य का अर्थ केवल सच बोलना ही नहीं, बल्कि जो सभी प्राणियों के लिए कल्याणकारी है, वहीं सत्य है। महाभारत में सत्य के तेरह रूप बताये गये हैं। इसके अनुसार पक्षपात न करना, इंद्रियों पर नियंत्रण रखना, क्षमाशीलता, साहिष्णुता, लज्जा, बिना प्रतिकार किये हुए कष्ट को स्वीकार करने की क्षमता, दान, ध्यान, करने और न करने योग्य कार्यों को समझने का स्वभाव, धृति, दया और अहिंसा सत्य के विभिन्न रूप हैं। इससे स्पष्ट होता है कि 'सत्य' के अन्दर ही सामान्य धर्म के सभी लक्षण आ जाते हैं।

RAO'S ACADEMY
for Competitive Exams

- **अक्रोध**

क्रोध मन का वह भाव है जो इच्छाओं के अपूर्ण रहने पर उत्पन्न होता है। क्रोध सभी अवगुणों का आधार है और क्रोध की स्थिति में सभी इन्द्रियां मनुष्य पर अपने आप ही अधिकार जमा लेती हैं। इस प्रकार अपने कर्तव्य की पूर्ति वही व्यक्ति कर सकता है जो क्रोध से दूर रहे और शान्त मन से प्रत्येक स्थिति को समझने का प्रयत्न करे।

सामान्य धर्म के उपर्युक्त सभी लक्षणों से स्पष्ट होता है कि ये सभी लक्षण व्यक्ति के कर्तव्य की पूर्ति में सहायक है और इसलिए इनका सामाजिक महत्व भी सबसे अधिक है।

- **विशिष्ट धर्म** (Vishishta Dharma)

हिन्दू संस्कृति की यह विशेषता है कि जहां इसमें एक ओर एक सर्वव्यापी मानव–धर्म को विशेष महत्व दिया गया है वहीं इस तथ्य को भी ध्यान में रखा गया है कि समय, परिस्थिति और स्थान को भिन्नता के अनुसार सभी व्यक्तियों के कर्तव्य समान नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यक्तियों के गुण, स्वभाव, व्यवहार, आयु और सामाजिक पद में भी भिन्नता होती है। ऐसी स्थिति में सभी व्यक्तियों का धर्म अथवा कर्तव्य एक–दूसरे से कुछ भिन्न हो जाना स्वाभाविक है।

उदाहरण के लिए, ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र के धर्म अपने–अपने वर्ण के अनुसार हैं, ब्रम्हचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और सन्यासी के धर्म एक–दूसरे से पृथक हैं, स्त्री का धर्म पुरूष से भिन्न है, गुरू और शिष्य का धर्म एक–दूसरे से भिन्न होता है, सैनिक का धर्म एक तथा राजा का धर्म दूसरा है, पिता, पुत्र अथवा मित्र के रूप में भी व्यक्ति का धर्म अथवा कर्तव्य भिन्न–भिन्न है। विशिष्ट धर्म को **'स्वभाव' भी कहा जाता है।** यह विशेष व्यक्ति का अपना धर्म होता है, सामान्य व्यक्तियों का सामान्य धर्म नहीं।

स्वधर्म के निर्धारण में व्यक्ति को अधिक स्वतंत्रता नहीं दी गयी है क्योंकि इससे तो पुनः संघर्षों में वृद्धि हो जाने की सम्भावना रहती है। विशिष्ट धर्म की प्रकृति को इसके प्रमुख स्वरूपों के आधार पर सरलतापूर्वक समझा जा सकता हैः

- **वर्ण धर्म**
  सामाजिक संगठन के दृष्टिकोण से हिन्दुओं को चार वर्णों में विभाजित किया गया है– ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। धार्मिक रूप से इन चारों वर्णों के पृथक–पृथक धर्म (कर्तव्य) निर्धारित किये गये जिससे प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की तुलना में अपने दायित्वों का उचित रूप से निर्वाह कर सके।
- **आश्रम धर्म**
  प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने लिए, दूसरे व्यक्तियों के लिए तथा सम्पूर्ण समाज के प्रति कर्तव्यों को पूरा करने के दृष्टिकोण से जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया गया है– ब्रम्हचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम तथा संन्यास आश्रम। प्रत्येक आश्रम में व्यक्ति के विशेष धर्म इस तरह निर्धारित किये गये हैं जिससे वह अपना शारीरिक, नैतिक और आत्मिक विकास करके मोक्ष के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सके।
- **कुल धर्म**
  भारतीय संस्कृति में कुल अथवा परिवार को सामाजिक व्यवस्था का केन्द्रीय तत्व माना गया है। इस आधार पर कुल धर्म का तात्पर्य परिवार के सभी सदस्यों द्वारा दूसरे सदस्यों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना और परिवार की परम्पराओं में निष्ठा बनाये रखना है। इस प्रकार कुल धर्म के अन्तर्गत हम प्रमुख रूप से **(i) पति–धर्म, (ii) पत्नी–धर्म, (iii) पुत्र धर्म, (iv) भ्रातृ धर्म** आदि को सम्मिलित करते हैं। इन विशिष्ट धर्मों के अतिरिक्त परिवार में सभी सदस्यों द्वारा कुल परम्परा की रक्षा करना, संस्कारों की पूर्ति करना तथा कुल की प्रतिष्ठा को बनाये रखना उनका प्रमुख दायित्व है। इस प्रकार कुल धर्म का सम्बन्ध पारिवारिक जीवन को संगठित बनाये रखने से है।
- **राजधर्म**
  महाभारत के अनुशासन पर्व में कहा गया है कि राजा का प्रमुख धर्म अपने पराक्रम से शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए सदैव तत्पर रहना है। इस धर्म का पालन न करने पर उसे शीघ्र ही शत्रुओं द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। जो राजा अपने देश और धर्म की रक्षा करते हुए वीरगति पाता है, वह परम गति (मोक्ष) का अधिकारी होता है। राजधर्म के अन्तर्गत राजा को दोषी व्यक्तियों के लए दण्ड देना तथा आवश्यकता होने पर दोषी को शारीरिक उत्पीड़न तक की आज्ञा देने का विधान रखा गया है। इससे भी राजधर्म की विशिष्टता और व्यवहारिकता स्पष्ट हो जाती है।
- **मित्र धर्म**
  हिन्दू धर्म में मित्रता के बन्धन को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है इसलिए यहां तक विधान है कि यदि व्यक्ति अपने बड़े भाई से भी मित्रता का भाव रखता है तब उस पर भ्रातृ धर्म की अपेक्षा मित्र धर्म पहले लागू होगा। मित्र धर्म दोनों पक्षों को समान अधिकार देता है जिसमें व्यक्ति की आयु, सम्पत्ति और सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता। एक मित्र का दूसरे मित्र के प्रति कर्तव्य है कि वह अपने मन, वचन और शरीर से उसकी रक्षा करे उसके दुःख में दुःख और सुख में सुख का अनुभव करे मित्र के लिए सभी तरह का त्याग करने को तैयार रहे तथा मित्र से कुछ भी छिपाने का प्रयत्न न करे।
- **गुरू धर्म**
  धर्म के अन्तर्गत गुरू का सर्वप्रमुख धर्म अहिंसा और त्याग के द्वारा ज्ञान का प्रसाद करना तथा सभी अधिकारों से सम्पन्न होने पर भी अधिकारों का त्याग करना है। इसके अतिरिक्त अपने शिष्यों का हित सोचना, शिष्य से पराजय मिलने पर भी गर्व का अनुभव करना गुरू धर्म के आधारभूत तत्व हैं। गुरू के इसी धर्म को व्यावहारिक रूप देने के लिए आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत यह पद उन्हीं व्यक्तियों को दिया जाता था जो वानप्रस्थ आश्रम में रहकर त्याग का जीवन व्यतीत कर रहे हों।

RAO'S ACADEMY for Competitive Exams

विशिष्ट धर्म के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि यह एक व्यावहारिक धर्म है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्थिति से अनुकूलन करने का अवसर प्रदान करता है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म में स्वधर्म के निर्वाह को इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

- **आपद्धर्म**

हिन्दू धर्म में यद्यपि सभी व्यक्तियों के लिए सामान्य और विशिष्ट दोनों तरह के धर्मों का निर्धारण किया गया है, लेकिन साथ ही हिन्दू शास्त्रकार इस बारे में एकमत हैं कि आपत्तिकाल में सामान्य और विशेष धर्म में कुछ परिवर्तन कर लेने पर भी व्यक्ति को इसका कोई दोष नहीं लगता। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में रोग, शोक, विपत्ति और धर्म–संकट की परिस्थितियां अवसर उत्पन्न होती रहती हैं। इन परिस्थितियों में व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने सामान्य अथवा विशेष धर्म के पालन में इस तरह संशोधित कर ले जिससे अधिक महत्वपूर्ण धर्म की रक्षा की जा सके। इस प्रकार आपद्धर्म का तात्पर्य दो बुराइयों में से एक को इस प्रकार से चुनना है जिससे धर्म के अधिक महत्वपूर्ण पक्ष की रक्षा की जा सके। आपत्तिकाल में धर्म की रक्षा के लिए झूठ बोल देने तक की अनुमति प्रदान की गयी है। उदाहरण के लिए, एक गाय बधिकों से रस्सा तुड़ाकर किसी प्रकार भागी और एक गुफा में घुस गई। गुफा के बाहर एक मुनि ध्यान–मग्न बैठे हुए थे। पीछा करते हुए बधिकों ने जब मुनि से गाय के बारे में पूछा तो मुनि मौन रहे और बधिकों ने गुफा में जाकर गाय को पकड़कर मार डाला। इस समय मुनि आपद्धर्म के अनुसार झूठ बोलकर गाय की रक्षा जैसे अधिक महत्वपूर्ण धर्म का पालन कर सकते थे, लेकिन ऐसा न करने के कारण उनकी सभी सिद्धियां नष्ट हो गयीं। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि आपद्धर्म का तात्पर्य दो धर्मों के बीच टकराव हो जाने पर अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण धर्म की रक्षा करने के लिए दूसरे धर्म के नियमों को कुछ समय के लिए त्याग देना है। इस परिस्थिति को शास्त्रों में 'धर्म संकट' कहा गया है। वास्तविकता यह हे आपद्धर्म हिन्दू धर्म उदारता और व्यावहारिकता को स्पष्ट करता है।

YOUR SUCCESS OUR PRIOR
RAO'S ACADEMY
for Competitive Exams
(A unit of RACE)